ज्ञानविविधा
रचना, आलोचना और शोध की त्रैमासिक पत्रिका

Online ISSN : 3048-4537
July-September 2024 : 1(4)55-60

©2024 Gyanvividha
www.gyanvividha.com

Dr. Sumit kumar
sr. Assistant professor,
Department of philosophy, S.M. College,Bhagalpur, TMBU

Corresponding Author :
Dr. Sumit kumar
sr. Assistant professor,
Department of philosophy, S.M. College,Bhagalpur, TMBU

आधुनिक उपभोक्तावाद और अर्थहीनता की समस्या : एक दार्शनिक विश्लेषण

सारांश : यह शोधपत्र आधुनिक उपभोक्तावाद की प्रवृत्ति और उससे उपजने वाली अर्थहीनता (निरर्थकता) की समस्या का गहन दार्शनिक विश्लेषण प्रस्तुत करता है। उपभोक्तावादी संस्कृति में उपभोग केवल भौतिक आवश्यकता नहीं, बल्कि जीवन शैली और पहचान का मानदंड बन गया है। इसके परिणामस्वरूप बाह्य सुख-सुविधाओं की प्रचुरता के बाद भी व्यक्तियों में आंतरिक खालीपन और उद्देश्यहीनता की भावना बढ़ी है। लेख में पश्चिमी अस्तित्ववाद तथा शून्यवाद के साथ-साथ भारतीय दार्शनिक ग्रंथों के आलोक में इस विडंबना की समीक्षा की गई है। विक्टर फ्रेंकल जैसे मनोवैज्ञानिक दर्शनशास्त्रियों ने आधुनिक समाज में अर्थ के अभाव को मानव मन की एक गहरी पीड़ा के रूप में पहचाना है, जबकि भारतीय दर्शन ने सहस्राब्दियों पूर्व कामना-त्याग, आत्मज्ञान और संतुष्टि द्वारा अर्थपूर्ण जीवन का मार्ग सुझाया। यह शोध विभिन्न दार्शनिक दृष्टिकोणों को समन्वित कर यह उजागर करता है कि उपभोक्तावाद और अर्थहीनता परस्पर जुड़ी चुनौतियाँ हैं, जिन्हें संतुलित मूल्यबोध, आत्मअनुशासन और आध्यात्मिक अंतर्दृष्टि से ही सुलझाया जा सकता है। प्रस्तुत अध्ययन उपभोक्तावादी युग में अर्थ के संकट का समाधान खोजने हेतु एक वैचारिक रूपरेखा प्रदान करता है।

मुख्य शब्द : उपभोक्तावाद, अर्थहीनता, अस्तित्ववाद, शून्यवाद, भारतीय दर्शन, आत्मअन्वेषण, दार्शनिक विश्लेषण।

1. परिचय : वर्तमान युग में उपभोक्तावाद मानव समाज की एक प्रमुख विशेषता बन गया है। उपभोक्तावाद का अर्थ ऐसी सामाजिक और आर्थिक संस्कृति से है जिसमें अधिकाधिक वस्तुओं और सेवाओं का उपभोग जीवन की सफलता और सुख का प्रमुख मानदंड माना जाता है। वैश्वीकरण और बाजारवादी अर्थव्यवस्था के प्रभाव से उपभोक्तावादी जीवनशैली का प्रसार तेज़ी से हुआ है, जिसमें व्यक्ति अपनी पहचान और प्रतिष्ठा खरीदे गए उत्पादों और भौतिक संपत्ति के आधार पर निर्धारित करने लगा है। उपभोक्ता संस्कृति ने **"अधिक से अधिक पाने"** की होड़ को प्रोत्साहित किया है, जिसमें नई से नई वस्तुओं का आकर्षण एक सम्मोहन की तरह कार्य करता है। फिर भी, भौतिक समृद्धि के इस दौर में मानसिक संतोष और जीवन के अर्थ का अभाव एक गंभीर चिंतन का विषय बनकर उभरा है।

दर्शनशास्त्र के क्षेत्र में लंबे समय से यह प्रश्न रहा है कि **जीवन का अर्थ क्या है और उसे कैसे पाया जाए**। आधुनिक **अस्तित्ववादी** विचारकों ने विशेषकर बीसवीं सदी में इस प्रश्न को मानव जीवन की केन्द्रीय समस्या के रूप में उठाया। विक्टर फ्रेंकल जैसे चिंतकों ने नोट किया कि आज "बहुत से लोगों के पास जीने के सारे साधन हैं, लेकिन जीने का कोई अर्थ नहीं"। यह विडंबना दर्शाती है कि आधुनिक समाज, जिसमें भौतिक सुविधाओं की भरमार

है, वहाँ भी लोग अंदर से खालीपन और उद्देश्यहीनता महसूस कर रहे हैं। फ़्रेंकल ने इस आंतरिक शून्यता को **"अस्तित्वगत निर्वात"** कहा है, जो मूल्य एवं उद्देश्य के अभाव से उपजता है (फ्रेंकल, 2006)। इसी प्रकार फ्रेडरिक नीट्शे ने ईश्वर की पारंपरिक अवधारणा के क्षीण होने पर चेतावनी दी थी – "भगवान मर चुका है" – जिसका आशय यह था कि पारंपरिक मूल्यों के टूटने पर जीवन में निरर्थकता की शून्यता भर सकती है। नीट्शे और सार्त्र जैसे दार्शनिकों ने माना कि आधुनिक व्यक्ति को स्वयं अपने जीवन का अर्थ गढ़ना होगा, अन्यथा वह निराशा या **निहिलिज़्म** (शून्यवाद) का शिकार हो जाएगा (नीत्शे, 1887; सार्त्र,1946)।

इस शोधपत्र में हम उपभोक्तावाद और अस्तित्वगत अर्थहीनता के बीच संबंधों का विश्लेषण करेंगे। प्रथम, **आधुनिक उपभोक्तावाद** के स्वरूप और प्रभावों को समझेंगे – कैसे यह संस्कृति मानव की इच्छाओं, आवश्यकताओं और मूल्यबोध को प्रभावित करती है। द्वितीय, **अर्थहीनता की समस्या** पर दार्शनिक विमर्श करेंगे – पश्चिमी दर्शन में अर्थ की खोज, शून्यवाद व अस्तित्ववाद के संदर्भ में। तृतीय, विश्लेषण करेंगे कि उपभोक्तावादी जीवनशैली किस प्रकार अर्थ के अभाव को जन्म देती या बढ़ाती है। अंततः, भारतीय दार्शनिक दृष्टिकोण से समाधान की खोज करेंगे – विशेषकर उपनिषद, भगवद्गीता तथा बौद्ध दर्शन के आलोक में यह समझने का प्रयास करेंगे कि आत्मसंयम, संतोष और आत्मज्ञान किस प्रकार अर्थहीनता की समस्या का प्रतिकार कर सकते हैं। उपभोक्तावादी युग में अर्थपूर्ण जीवन का मार्ग तलाशना ही इस शोध का उद्देश्य है।

2. आधुनिक उपभोक्तावाद: स्वरूप और प्रभाव : उपभोक्तावाद महज़ आर्थिक प्रवृत्ति नहीं, बल्कि एक सांस्कृतिक मूल्य बन चुका है जिसमें उपभोग को सुख और सफलता का पर्याय मान लिया गया है। इसके सिद्धांत के अनुसार "उपलब्ध संसाधनों का अधिकतम उपयोग और उपभोग" करना ही प्रगति है। आधुनिक बाजार अर्थव्यवस्था विज्ञापन और मीडिया के माध्यम से नए-नए उत्पादों की लालसा पैदा करती है, जिससे उपभोक्ता अनवरत खरीदारी को प्रेरित होता रहे। इस संदर्भ में फ़्रांसीसी दार्शनिक ज्यां बोद्रियार का कथन उल्लेखनीय है कि आधुनिक उपभोक्ता संस्कृति में "पहले कोई वस्तु सुख देने वाली लगती है, पर अंत में वही वस्तु दुःख का कारण बन जाती है"। वस्तुओं के प्रति यह क्षणिक आकर्षण और तत्पश्चात उत्पन्न असंतोष उपभोक्तावाद की मूल चरित्रगत विडंबना है।

मार्क्सवादी चिंतक हर्बर्ट मार्क्यूज़ ने उपभोक्तावादी समाज का विश्लेषण करते हुए कहा था कि लोग "अपनी वस्तुओं में स्वयं को पहचानने लगते हैं; वे अपनी आत्मा मानो अपनी कार, संगीत उपकरण और रसोई के सामानों में खोजने लगते हैं"। इस कथन में छिपा अर्थ यह है कि पूँजीवादी उपभोक्ता संस्कृति ने मनुष्य और वस्तु के बीच संबंध को इतना गहरा कर दिया है कि व्यक्ति की पहचान उपभोग की चीज़ों में समाहित हो गई है। उपभोक्तावाद व्यक्ति को उत्पादों का मात्र उपभोगकर्ता बना देता है और एक "एकान्चिक मानव" का निर्माण करता है जो आलोचनात्मक चिंतन से विरत होकर वस्तुओं में ही अपनी संतुष्टि खोजता है (मार्क्युज़, 1964)।

उपभोक्तावादी दृष्टिकोण की एक विशेषता इच्छाओं की अनंत श्रृंखला है। बाज़ार निरंतर नए उत्पाद, नए फ़ैशन और उन्नत तकनीक प्रस्तुत करता है, जो उपभोक्ताओं की इच्छाओं को कभी स्थिर नहीं होने देता। परिणामस्वरूप व्यक्ति एक समाप्त न होने वाले दौड़ का हिस्सा बन जाता है। एक इच्छा पूरी होते ही दूसरी जन्म ले लेती है। महात्मा गांधी ने इस मानव मनोवृत्ति को भलीभाँति पहचाना था: "मन एक चंचल पक्षी है; उसे जितना मिलता है, वह उतना ही और चाहता है, और फिर भी असंतुष्ट रहता है।" आधुनिक उपभोक्तावाद इसी "और चाहने" की मनोवृत्ति पर टिक कर फल-फूल रहा है।

उपभोक्तावादी संस्कृति का प्रभाव केवल व्यक्तिगत स्तर पर नहीं, सामाजिक और नैतिक स्तर पर भी दृष्टिगोचर होता है। मूल्य और नैतिकता कई बार उपभोगवादी तर्क के अधीन हो जाती हैं; सामाजिक प्रतिष्ठा का मापदंड उपभोग बन जाने से व्यक्ति अपने चरित्र की जगह बाहरी वस्तुओं के आधार पर स्वयं का मूल्यांकन करने लगता है। ज़ायग्मंट बाउमन के अनुसार उपभोक्ता संस्कृति में स्थायित्व की जगह क्षणभंगुरता और परिवर्तन को महत्व दिया जाता है। संबंध अस्थायी होते हैं और वस्तुएँ जल्दी "पुरानी" हो जाती हैं, जिससे स्थायी अर्थ या उद्देश्य का निर्माण कठिन हो जाता है। इसी दौड़ में वास्तविक आवश्यकताओं और कृत्रिम इच्छाओं का विभेद धुंधला पड़ता है; उपभोक्तावादी अर्थव्यवस्था "झूठी आवश्यकताएँ" पैदा करती है (मार्क्युज़, 1964)। परिणामस्वरूप भौतिक उपभोग बढ़ता है, पर आंतरिक जीवन आत्मिक संतोष, संबंधों की गहराई, आध्यात्मिक/रचनात्मक विकास क्षीण हो सकता है; और यही भूमि आगे चलकर अर्थहीनता की समस्या को पोषित करती है।

3. अर्थहीनता की समस्या: दार्शनिक परिप्रेक्ष्य : जब जीवन का स्पष्ट उद्देश्य या अर्थ न दिखाई दे, तो व्यक्ति के भीतर एक खालीपन, हताशा अथवा निरर्थकता का बोध जागृत होता है। यह **अर्थहीनता की समस्या** आधुनिक मानव के मानसिक संताप के रूप में उभरी है। दर्शनशास्त्र में इसे विशेषकर **अस्तित्ववादी** चिंतकों ने रेखांकित किया और आधुनिक स्थिति को "**अर्थ संकट**" कहा जहाँ पुराने धार्मिक-मोरल मूल्य कमजोर पड़ गए और नए भौतिकवादी मूल्य आत्मिक तृप्ति देने में असमर्थ रहे।

फ्रांसीसी दार्शनिक **अल्बर्ट कामू** के अनुसार हमारे सामने मूल प्रश्न यह है कि "**जीवन जीने लायक है या नहीं**" यही दरअसल जीवन के अर्थ का प्रश्न है (कामू, 1955)। कामू ने आधुनिक जीवन को बेतुका कहा: मनुष्य अर्थ खोजता है, पर ब्रह्मांड कोई स्पष्ट उत्तर नहीं देता। इस अनर्थकता से निपटने के लिए वे **विद्रोह** और **स्वीकार** का मार्ग सुझाते हैं। बेतुकापन स्वीकारते हुए भी जीवन को जिया जाए और **स्वयं अर्थ**

रचा जाए। इसी संदर्भ में सिसिफस का उदाहरण देते हुए वे कहते हैं: "**हमें सिसिफस को खुश कल्पना करना चाहिए**" (कामू, 123)। अर्थात् निरर्थक परिस्थितियों में भी संघर्ष के भीतर मनुष्य अपना अर्थ खोज सकता है।

इसी क्रम में **विक्टर फ्रेंकल** (मनोवैज्ञानिक होकर भी दार्शनिक विश्लेषक) द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद फैले **अस्तित्वगत खोखलेपन** पर लिखते हैं: "**आज लोगों के पास जीने के सभी साधन हैं, पर जीने के लिए अर्थ नहीं है**।" फ्रेंकल के अनुसार यह **अस्तित्वगत शून्यता** आधुनिक युग की बीमारी है, जो उत्साहहीनता, ऊब और अवसाद के रूप में प्रकट होती है (फ्रेंकल, 2006)। उनके मत में अर्थ की खोज मनुष्य की बुनियादी प्रेरणा है; अर्थ न मिले तो व्यक्ति नशे, भौतिकवाद, उच्छृंखल कामना या हिंसा जैसी नकारात्मक शरणों की ओर झुक सकता है (फ्रेंकल, 1946)। इसी पृष्ठभूमि में लोगोथैरैपी जीवन- अर्थ को मानसिक स्वास्थ्य की अनिवार्य शर्त मानती है।

आधुनिक संदर्भ में अर्थहीनता बढ़ने का एक बड़ा कारण **मूल्यों का शून्यीकरण** है। **नीट्शे** ने "भगवान मर चुका है" कहकर संकेत दिया कि पारंपरिक मूल्य-व्यवस्थाओं के टूटने से **मूल्यात्मक रिक्ति** बनती है, जिसमें नई मूल्य-दृष्टि न आए तो अर्थहीनता/निहिलिज़्म घर कर सकता है। दो विश्वयुद्धों की त्रासदी के बाद अस्तित्ववादियों ने माना कि विश्व का कोई पूर्वनिर्धारित अर्थ नहीं मनुष्य स्वतंत्र है और उसे अपने जीवन का अर्थ स्वयं बनाना होगा; सार्त्र के शब्दों में, "**मनुष्य स्वतंत्र होने के लिए अभिशप्त है**" (सार्त्र, 1946)। पर यह स्वतंत्रता कई लोगों के लिए **"अस्तित्वगत तनाव"** बन जाती है।

समाजशास्त्रीय-मनौवैज्ञानिक अध्ययनों में भी संकेत मिलता है कि उपभोक्तावादी युग में **अत्यधिक भौतिकवादी लक्ष्य** अवसाद और असंतोष बढ़ाते हैं (कैसर, 2002)। धन-संपदा के पीछे भागते समाज में संबंधों की ऊष्मा, सामुदायिक सहयोग और आध्यात्मिक आसरा कमज़ोर होने से अर्थहीनता और गहरी हो जाती है। इसलिए अब अगला प्रश्न स्वाभाविक है: क्या **आधुनिक उपभोक्तावाद** और इस अर्थहीनता के बीच कोई सीधा संबंध है। और क्या उपभोक्तावाद इसे बढ़ावा देता है? अगले खंड में इसी पारस्परिक संबंध की चर्चा होगी।

4. उपभोक्तावाद और अर्थहीनता: पारस्परिक संबंध : आधुनिक उपभोक्तावाद और अर्थहीनता के बीच एक जटिल परस्पर संबंध दृष्टिगत होता है। एक ओर, उपभोक्तावाद उस शून्यता को भरने का वादा करता है जो अर्थहीनता से उपजती है। "जो ख़ालीपन महसूस हो रहा है, उसे ख़रीदारी द्वारा भर लो" जैसी मनोभूमि को बाजार बढ़ावा देता है। दूसरी ओर, उपभोक्तावादी जीवनशैली स्वयं नई निरर्थकता को जन्म दे सकती है, क्योंकि यह मनुष्य की अर्थ-खोज को भटकाकर सतही भोगों में उलझा देती है। इस द्वंद्व को समझने हेतु कुछ बिंदुओं पर गौर करना आवश्यक है।

1. उपभोक्तावाद एक नकली प्रतिवेदन देता है : विज्ञापन और मीडिया उपभोक्ताओं को यह विश्वास दिलाते हैं कि अधिक सामान या नई वस्तु खरीद लेने से जीवन बेहतर और खुशहाल हो जाएगा। प्रसाधन से लेकर इलेक्ट्रॉनिक गैजेट और कार तक हर चीज़ को इस प्रकार पेश किया जाता है मानो वही खुशियों का स्रोत है। इससे बहुत से लोग जीवन की असंतुष्टि को दूर करने के लिए ख़रीदारी या भौतिक संपदा इकट्ठा करने को उपचार मान लेते हैं। पर यह राहत अल्पकालिक सिद्ध होती है। नया फ़ोन या नए कपड़े कुछ समय को उत्साह भर सकते हैं, किन्तु जल्दी ही मन फिर वैसी ही उदासी या खालीपन महसूस करने लगता है। इस प्रकार उपभोक्तावाद लक्षणों का क्षणिक उपचार करता है, बीमारी की जड़ को नहीं छूता। जिस आत्मिक अर्थ की तलाश व्यक्ति को थी, वह वस्तुओं में नहीं मिलती "भौतिक सुख अल्प आनंद देते हैं परंतु दीर्घकालीन दुख का कारण बनते हैं" जैसा कि भगवद्गीता में भी कहा गया है। उपभोक्तावाद का वादा मिथ्या साबित होता है और अर्थहीनता की मूल समस्या यथावत रहती है।

2. इच्छाओं का असंतोष और कभी न समाप्त होने वाली दौड़: उपभोक्तावादी व्यवस्था निरंतर असंतोष पर चलती है। यदि लोग पूर्ण संतुष्ट हो जाएँ तो बाजार ठप्प पड़ जाएगा। इसलिए नएपन का लोभ पैदा किया जाता है। नयी मॉडल की कार, फ़ैशन में नया चलन, तकनीक का नया संस्करण ताकि उपभोक्ता की इच्छा फिर से उद्वेलित हो। इस चक्र में व्यक्ति कभी ठहरकर आत्ममंथन नहीं कर पाता कि वास्तव में उसे कितनी चीज़ों की ज़रूरत है। गीता में स्पष्ट कहा गया है: "इंद्रिय-संपर्क से उत्पन्न भोग दुःख का कारण हैं – बुद्धिमान व्यक्ति उनमें रमण नहीं करते"। पर उपभोक्तावाद बुद्धिमत्ता नहीं, बल्कि प्रवृत्ति के अंधअनुसरण को बढ़ावा देता है। जब जीवन **प्राप्ति और उपभोग** की दौड़ बन जाता है, तो गहरे मानवीय उद्देश्य जैसे आत्म-विकास, समाज सेवा, कला-सर्जना या अध्यात्म पिछड़ जाते हैं। परिणामतः एक मनोवैज्ञानिक शून्यता उपजती है कि "मैं आखिर क्या कर रहा हूँ? इस सबका मतलब क्या है?" उपभोक्तावादी संस्कृति इस प्रश्न को दबाए रखने की कोशिश तो करती है, किंतु पूरी तरह मिटा नहीं पाती।

3. मानवीय संबंधों और समुदाय पर प्रभाव: अर्थपूर्ण जीवन के महत्वपूर्ण स्रोतों में मानवीय संबंध, मित्रता, परिवार, समुदाय और परोपकार शामिल हैं। उपभोक्तावाद एक हद तक व्यक्तिवाद को प्रोत्साहित करता है। "अपने लिए खरीदो, खुद का फायदा सोचो" इस मानसिकता से सामाजिक संबंध कमजोर पड़ सकते हैं। जब सफलता की परिभाषा धन और वस्तुओं से होने लगे, तो सहयोग की जगह प्रतिस्पर्धा और संवेदनहीनता पनप सकती है। लोग एक-दूसरे को इंसान नहीं, किसी लक्ष्य को पाने के साधन या बाधा के रूप में देखने लगते हैं। ऐसी सामाजिक दृष्टिहीनता अर्थहीनता की भावना को बढ़ा देती है। शोध बताते हैं कि अत्यधिक उपभोक्तावादी मूल्यों वाले लोगों में समुदाय-भावना कम और आत्मकेंद्रित प्रवृत्ति अधिक होती है, जो अंततः कम संतोषजनक जीवन की ओर ले जाती है (कैसर, 2002)।

4. अस्तित्वगत प्रश्नों से दूरी: उपभोक्तावाद इंसान के ध्यान को बाहरी वस्तुओं पर केंद्रित रखता है, जिससे वह अपने अस्तित्व के मूल प्रश्न "मैं कौन हूँ? मुझे जीवन में क्या करना है?" इनपर सोचने से बचा रहता है। यह एक प्रकार का निरंतर व्याकुलता में डूबे रहना है। लोग उपभोक्तावादी मनोरंजन, सोशल मीडिया, खरीदारी, फ़ैशन आदि में इतने मशगूल रहते हैं कि उन्हें जीवन के दार्शनिक पहलुओं पर विचार करने की फ़ुर्सत नहीं मिलती। लेकिन यह मुक्ति नहीं, पलायन है। गहरे प्रश्न जस के तस रहते हैं, बस व्यक्ति उनका सामना नहीं करता।

इन बिंदुओं से स्पष्ट होता है कि उपभोक्तावाद और अर्थहीनता एक दूसरे को प्रभावित करने वाला दुष्चक्र बना सकते हैं। उपभोक्तावाद अर्थहीनता के एहसास को अस्थायी सुख देकर ढाँकता है, पर उसे ख़त्म नहीं करता; उलटे वह ऐसी परिस्थितियाँ बना सकता है जो अर्थहीनता को और बढ़ाएँ। एरिच फ़्रॉम ने इसे "होने के बजाय पाने" के रवैये से जोड़कर समझाया है: जब जीवन का लक्ष्य सिर्फ पाना (वस्तुएँ, धन, सत्ता) बन जाता है तो व्यक्ति का 'होना' अर्थात् आत्मिक विकास, प्रेम, रचनात्मकता इत्यादि दब जाते हैं, और भीतर खोखलापन महसूस होता है (फ़्रॉम, 1976)। फिर भी, संतुलित दृष्टि यह मानती है कि प्रगति और उपभोग अपने आप में बुरे नहीं; समस्या तब होती है जब नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों का संतुलन टूट जाए। इसलिए अगला प्रश्न यही है कि इस दुष्चक्र से निकलने का रास्ता क्या है। और क्या भारतीय दार्शनिक परंपरा इच्छाओं के उल्लंघन तथा आध्यात्मिक अनुशीलन द्वारा स्थायी अर्थ की राह दिखाती है?

5. भारतीय दर्शन में समाधान की खोज : आधुनिक उपभोक्तावाद और अर्थहीनता की चुनौती का समाधान भारतीय दर्शनशास्त्र की समृद्ध परंपरा में काफी हद तक निहित मिलता है। भारत के प्राचीन दार्शनिक ग्रंथ उपनिषद, भगवद्गीता, बौद्ध धर्म के सूत्र सभी में इंद्रियभोग, ऐहिक लालसा और आत्मिक सुख के बीच स्पष्ट तुलना की गई है। इन ग्रंथों ने सहस्राब्दियों पूर्व ही चेतावनी दी थी कि केवल भोग-विलास या भौतिक संपदा मनुष्य को स्थायी शांति नहीं दे सकते; वास्तविक तृप्ति आत्मज्ञान, संयम और परोपकार में निहित है। इसीलिए आधुनिक उपभोक्तावाद की समस्या का उत्तर भारतीय दर्शन अपने स्थायी जीवन-मूल्यों में प्रस्तुत करता है।

उपनिषदों की दृष्टि श्रेय बनाम प्रेय: कठोपनिषद् में यमराज नचिकेता को जीवन का रहस्य समझाते हुए दो मार्गों का वर्णन करते हैं। **प्रेय** और **श्रेय**। प्रेय वह है जो तुरंत सुखद लगे (इंद्रिय सुख, भौतिक आनंद), जबकि श्रेय वह है जो कल्याणकारी और शुभ हो, भले ही तुरंत आकर्षक न हो। यम कहते हैं: "**श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः; श्रेयो हि धीरोऽभि प्रेयसो वृणीते, प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद्वृणीते**"—अर्थात् बुद्धिमान व्यक्ति शुभ (श्रेय) को चुनता है, जबकि मूढ़ (मंदबुद्धि) मनुष्य सिर्फ सुखकर (प्रेय) को अपनाकर अपने शरीर तथा भौतिक सुख की सुरक्षा में लग जाता है। यह शिक्षाप्रद अंतर उपभोक्तावादी बनाम आध्यात्मिक जीवन की सटीक झलक देता है। उपभोक्तावादी संस्कृति प्रेय मार्ग की ओर ले जाती है। तत्काल सुख, आराम, आनंद की ओर जो दिखने में मोहक है, पर अंततः आत्मिक पतन का कारण बनता है। इसके विपरीत श्रेय मार्ग में क्षणिक इंद्रिय-सुख का त्याग कर के ऊँचा आदर्श चुनना होता है। आत्मज्ञान, मोक्ष, नैतिक कल्याण जो आरंभ में कठिन प्रतीत हो सकता है, किन्तु यही स्थायी आनंद और अर्थ प्रदान करता है।

उपनिषद आगे कहते हैं कि जो लोग प्रेय (भोगों) के अंधकार में फँसे रहते हैं, वे स्वयं को बुद्धिमान समझते हुए भी "**अज्ञान के अंधेरे में चक्कर लगाते हैं, जैसे अंधों द्वारा नेतृत्व किए जा रहे अंधे**"। ऐसे लोग "**यह ही संसार सब कुछ है, परलोक कुछ नहीं**" ऐसा मानते हुए बार-बार जन्म-मरण के चक्र में गिरते हैं। यह वर्णन चौंकाने वाला है, क्योंकि आधुनिक भौतिकवादी दृष्टिकोण भी कुछ ऐसा ही बन चुका है। लोग केवल इसी दुनिया की भोग-वस्तुओं को ही सत्य मान बैठे हैं, आध्यात्मिक सत्य या मोक्ष जैसी बातों को नकार देते हैं। उपनिषद् हमें आगाह करते हैं कि ऐसी सोच अन्ततः दुख और बंधन को जन्म देती है। इसीलिए श्रेय मार्ग अपनाकर इच्छाओं पर नियंत्रण और आत्मा के कल्याण की ओर प्रवृत्त होना ही बुद्धिमत्ता है।

श्रीमद्भगवद्गीता का ज्ञान: भगवद्गीता—जो उपनिषदों का सार है। मानव जीवन के अर्थ और कर्तव्य पर अमूल्य शिक्षा देती है। गीता में भगवान कृष्ण अर्जुन को स्थिरबुद्धि (स्थितप्रज्ञ) व्यक्ति के लक्षण बताते हुए कहते हैं कि जब मनुष्य इच्छाओं का त्याग कर देता है, अहंकार और ममता से मुक्त हो जाता है, तभी उसे स्थायी शांति प्राप्त होती है (गीता 2.71)। विशेषकर गीता का एक श्लोक (5.22) उपभोक्तावाद के संदर्भ में अत्यंत समीचीन है: "**ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते; आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः**" अर्थात् इंद्रियों और विषयों के संयोग से उत्पन्न भोग वास्तव में दुःख के ही कारण हैं; वे आरंभ और अंत सहित (क्षणिक) होते हैं, इसलिए बुद्धिमान व्यक्ति उनमें आनंद नहीं लेता। गीता यहाँ स्पष्ट चेतावनी देती है कि इंद्रिय सुख क्षणभंगुर हैं और अंततः दुःख ही देते हैं; अतः जो प्रज्ञावान है वह उनकी आसक्ति छोड़ देता है। यह ठीक वही बात है जो आधुनिक मनोविज्ञान भी पुष्टि करता है। सेंसर्री सुखों का प्रभाव क्षणिक होता है और उनमें डूबे रहने से और ज़्यादा की भूख बढ़ती है, न कि संतोष मिलता है।

गीता में अर्जुन के प्रश्न पर कृष्ण यह भी बताते हैं कि मन की चंचल वृत्ति को **अभ्यास** और **वैराग्य** द्वारा वश में करना होगा (गीता 6.35)। आधुनिक सन्दर्भ में यह शिक्षा अमूल्य है: उपभोक्तावाद ने हमारे मन को एक "चंचल पक्षी" बना दिया है, जो हर पल किसी नए आकर्षण की ओर उड़ जाना चाहता है। गीता का समाधान है कि निरंतर अभ्यासपूर्वक मन को केंद्रित करना और विषयों से वैराग्य विकसित करना (यानि जानबूझकर कुछ इच्छाओं का त्याग करना) ही मन को स्थिर करेगा और वास्तविक सुख देगा। आज के संदर्भ में माइंडफुलनेस, योग, ध्यान जैसी प्रथाएँ वस्तुतः इसी गीता के मार्ग का आधुनिक रूप हैं। इंद्रियाधीन जीवन शैली से हटकर आत्मचिंतन और आत्मनियंत्रण का

अभ्यास।

बौद्ध दर्शन—तृष्णा से तृप्ति तक: भगवान बुद्ध ने चार आर्य सत्य में "**संसर में दुःख है**" कहकर मानव पीड़ा का उद्घाटन किया और फिर बताया कि सभी दुःखों का मूल कारण **तृष्णा** (लालसा या क्रेविंग) है। उपभोक्तावाद मूलतः तृष्णा को ही भड़का कर चलने वाली मशीन है। अधिक से अधिक चाहते जाओ। बुद्ध का मार्ग इसके विपरीत "**तृष्णा के क्षय**" (निर्वाण) को लक्ष्य बनाता है। धम्मपद में बुद्ध के उपदेश हैं: "**न चाहे सोने की मुहरों की वर्षा भी हो, इच्छाएँ संतुष्ट नहीं होतीं; ये इच्छाएँ थोड़ा सुख देती हैं पर दुख बहुत देती हैं**।" यहाँ बुद्ध साफ कहते हैं कि इंद्रिय भोग कभी भी पूर्ण तृप्ति नहीं दे सकते; उन्हें पूरा करने के प्रयास में मनुष्य और दुःख पाता है। बुद्ध के शिष्यों के लिए यह भी कहा गया है कि स्वर्ग के सुखों में भी बुद्ध का सच्चा अनुयायी आसक्ति नहीं रखता; वह तो "**तृष्णा के अंत**" में ही आनंद खोजता है। बौद्ध दर्शन के ये उपदेश उपभोक्तावादी प्रवृत्ति का प्रतिपक्ष हैं। **संतोष** एवं **मितव्ययिता** पर बल देते हैं, न कि असीम भोग पर। बौद्ध मार्ग **मध्यमार्ग** है। अतिशय उपभोग या अतिशय दमन, दोनों से बचना। आवश्यकताओं को सीमित और साधारण रखने का यह सुझाव मन को शांत करता है; और संयम से उपजा संतोष ही जीवन का अर्थ महसूस करने के लिए ज़मीन तैयार करता है।

गांधीवादी विचार संयम और स्वदेशी: आधुनिक युग में महात्मा गांधी ने पश्चिम के अंधउपभोगवादी "सभ्यता" की कड़ी आलोचना की और "सादा जीवन, उच्च विचार" का आदर्श रखा। हिंद स्वराज में गांधीजी पश्चिमी भोगवादी सभ्यता को "शैतानी सभ्यता" तक कह देते हैं (हिन्द स्वराज, 1909)। उनका मानना था कि मशीनों के माध्यम से बढ़ती हुई उपभोक्तावृत्ति मानव को नैतिक एवं आत्मिक रूप से पतित करेगी। गांधी कहते थे, "**प्रकृति हर मनुष्य की ज़रूरत पूरी करने के लिए पर्याप्त देती है, परन्तु हर मनुष्य के लालच के लिए नहीं**" (गांधी, 1938)। उन्होंने ट्रस्टीशिप का सिद्धांत दिया, जहाँ धनवान व्यक्ति भी स्वयं को संपत्ति का मालिक नहीं, ईश्वर का ट्रस्टी समझे और आवश्यकता से अधिक संपत्ति समाज के हित में लौटा दे। गांधीजी के अनुसार इच्छाओं पर नियंत्रण "अपने भोगों पर स्वयं लगाम लगाओ, हद तय करो" ही वास्तविक आज़ादी और सुख का मार्ग है।

उपसंहारतः भारतीय दृष्टिकोण: भारतीय दर्शन हमें सिखाता है कि अर्थपूर्ण जीवन का आधार बाहरी वस्तुओं की प्रचुरता नहीं, बल्कि आंतरिक संतुलन और आत्मबोध है। उपभोक्तावाद से उत्पन्न अर्थहीनता का उपचार भारतीय विचार में तीन स्तरों पर मिलता है: (i) **विवेकपूर्वक इच्छाओं का संयम** श्रेय को चुनना, आवश्यकता और लालसा में भेद करना; (ii) **आत्मान्वेषण एवं आध्यात्मिकता** आत्मचिंतन, ध्यान, योग द्वारा स्व को भौतिक वस्तुओं से परे समझना; (iii) **लोकसंलग्नता एवं कर्तव्य** कर्मयोग के माध्यम से निःस्वार्थ कर्म को यज्ञ (समर्पण) की तरह करना। इस प्रकार भारतीय दार्शनिक परंपरा आधुनिक उपभोक्तावाद से उपजी अर्थहीनता की समस्या के लिए एक संतुलित और स्थायी समाधान प्रस्तुत करती है: उपभोक्तावाद जहाँ बाह्य उन्नति पर केंद्रित है, वहीं भारतीय दर्शन आत्मिक उन्नति पर और वास्तविक सुख तथा अर्थ का स्रोत अंतर्मुखी होने में है, न कि बहिर्मुखी दौड़ में।

6. निष्कर्ष : आधुनिक उपभोक्तावाद और अर्थहीनता की समस्या का यह दार्शनिक विश्लेषण हमें उस विचित्र परिस्थिति की समझ प्रदान करता है जिसमें आज का मानव खुद को पाता है – चारों ओर भौतिक चमक-धमक, फिर भी मन में गहरा खालीपन। हमने देखा कि कैसे उपभोक्तावाद एक ओर आनंद का आश्वासन देता है, पर दूसरी ओर और अधिक इच्छाओं की आग भड़का कर अंततः व्यक्ति को अतृप्त ही छोड़ देता है। **आधुनिकता का विरोधाभास** यही है कि प्रगति के साथ-साथ अर्थ का संकट गहरा रहा है।

किन्तु आशा की किरण यह है कि इस संकट का समाधान स्वयं मनुष्य की चेतना और उसके द्वारा चुने गए जीवन-मूल्यों में निहित है। अगर उपभोक्तावाद मानव निर्मित समस्या है, तो मानव अपने विवेक से इससे ऊपर उठ भी सकता है। दर्शनशास्त्र हमें यह विवेकबुद्धि प्रदान करता है कि हम भौतिक वस्तुओं और जीवन के परम उद्देश्य में अंतर पहचान सकें। जैसा फ्रेंकल ने सुझाया, **मनुष्य एक अर्थ-खोजी प्राणी है** – यदि वह सतही चीज़ों में अर्थ तलाशेगा, तो निराश होगा; उसे अपने जीवन को ऐसे कार्य और मूल्यों से जोड़ना होगा जो उससे बड़े हों (फ्रेंकल, 1946)।

भारतीय और पाश्चात्य दोनों दार्शनिक दृष्टिकोण अंततः इस बात पर सहमत जान पड़ते हैं कि **अत्यधिक भौतिकवाद मानव कल्याण के लिए हानिकर है**। उपभोक्तावाद ने जिसे "नकली सुख" का मायाजाल बुना है, उसे चीरने के लिए आत्मचेतना और संयम की तलवार आवश्यक है। यह व्यक्ति के स्तर पर भी लागू होता है और सामाजिक स्तर पर भी। व्यक्तिगत रूप से हम अपने जीवन में **सरलता, संतोष और आत्म-विकास** के आदर्श अपनाकर उपभोक्तावादी दबावों से मुक्त हो सकते हैं। सामाजिक स्तर पर नीतियों और शिक्षा के माध्यम से मूल्य आधारित विकास पर ज़ोर दिया जाना चाहिए जहाँ सफलता का मानदंड केवल जीडीपी या उपभोग नहीं, बल्कि मानव सुख और पर्यावरणीय संतुलन भी हो।

आधुनिक काल में कुछ सकारात्मक प्रवृत्तियाँ देखने को मिल रही हैं – जैसे योग एवं ध्यान का वैश्विक प्रसार, स्थायी विकास पर बल, मितव्ययिता आंदोलन, मानसिक स्वास्थ्य पर बढ़ती जागरुकता – ये सभी संकेत हैं कि मानवता उपभोक्तावाद के अतिरेक को पहचानकर एक संतुलन की ओर कदम बढ़ा रही है। फ्रांसीसी विचारक बोद्रियार ने उपभोक्तावाद को एक **"सम्मोहन"** कहा था जो उपभोक्ता को नचाता है; अब समय है कि मनुष्य इस सम्मोहन से जागे और अपने जीवन की बागडोर खुद संभाले।

संदर्भ सूची :

1. **Baudrillard, Jean.** The Consumer Society: Myths and Structures. Translated by Chris Turner, Sage Publications, 1998.
2. **Bauman, Zygmunt.** Consuming Life. Polity Press, 2007.
3. **Bhagavad Gita.** Translated by S. Radhakrishnan, HarperCollins, 2014.
4. **Buddha.** Dhammapada. Translated by Acharya Buddharakkhita, Buddhist Publication Society, 1985.
5. **Camus, Albert.** The Myth of Sisyphus. Vintage International, 1991.
6. **Frankl, Viktor E.** Man's Search for Meaning. Beacon Press, 2006.
7. **Fromm, Erich.** To Have or To Be? Harper & Row, 1976.
8. **Gandhi, M. K.** Hind Swaraj or Indian Home Rule. Navajivan Publishing, 1938.
9. **Katha Upanishad.** Translated by Swami Gambhirananda. Eight Upanishads (Vol. 1), Advaita Ashrama, 1957.
10. **Kasser, Tim.** The High Price of Materialism. MIT Press, 2002.
11. **Liu, Gengmeng.** "Nihilism and Modern Consumerism: A Philosophical Exploration of the Search for Meaning." Scientific and Social Research, vol. 6, no. 8, 2024, pp. 207-211.
12. **Marcuse, Herbert.** One-Dimensional Man: Studies in the Ideology of Advanced Industrial Society. Beacon Press, 1964.
13. **Nietzsche, Friedrich.** The Gay Science. Translated by Walter Kaufmann, Vintage Books, 1974.
14. **Schumacher, E. F.** Small is Beautiful: Economics as if People Mattered. Blond & Briggs, 1973.
15. **Upanishads (Principal).** The Principal Upanishads, edited by S. Radhakrishnan, HarperCollins, 1994.

●